Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 15, Issue No. 11, November-2018, ISSN 2230-7540

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के निबंधों का अध्ययन

Kuldeep Sharma*

Lecturer in Hindi, GSSS Singowal, Jind Haryana

सार – ***संस्कृति एक जटिल पद है। संस्कृति की अधिकांश व्याख्याएं अमूर्त विवेचनाओं में सिमट जाती हैं। दरअसल संस्कृति अमूर्तन नहीं है। संस्कृति एक ठोस परिणाम देने वाली शक्ति के रूप में उभरती है। वह राष्ट्र और व्यक्ति दोनों के आचरण की निर्धारिका ताकत की तरह हमारे समक्ष प्रकट होती है। वह मनुष्य के कर्म की प्रेरणा बनती है, जिससे देश और समाज का भविष्य तय होता है। संस्कृति के प्राचीन और अधुनातन रूपों को बड़े सूत्रबद्ध तरीके से विश्लेषित करने की आवश्यकता है। इससे संस्कृति की मानव समाज की जरूरतों का खुलासा तो होगा ही है, उसके निरंतर बदलते स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता रहेगा। संस्कृति के लिए रवींद्र नाथ टैगोर द्वारा प्रयुक्त पद 'दृष्टि' एक दिशा निर्धारक बन सकता है। इससे संस्कृति के मूल रूप और उसकी मूल भावना को समझने में मदद ही मिल सकती है। संस्कृति, 'दृष्टि' का संदर्भ पाकर एक नयी अर्थदीप्ति से आलोकित हो उठती है।***

----------X----------

वस्तुत: भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। अन्य देशों की संस्कृतियाँ तो समय की धारा के साथ-साथ नष्ट होती रही हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति आदि काल से ही अपने परम्परागत अस्तित्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है। इसकी उदारता तथा समन्यवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किन्तु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान् अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं।

"संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र रूप का नाम है, जो उस समाज के सोचने, विचारने, कार्य करने, खाने-पीने, बोलने, नृत्य, गायन, साहित्य, कला, वास्तु आदि में परिलक्षित होती है। संस्कृति का वर्तमान रूप किसी समाज के दीर्घ काल तक अपनायी गयी पद्धतियों का परिणाम होता है। 'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा की धातु 'कृ' (करना) से बना है। इस धातु से तीन शब्द बनते हैं 'प्रकृति' (मूल स्थिति), 'संस्कृति' (परिष्कृत स्थिति) और 'विकृति' (अवनति स्थिति)। जब 'प्रकृत' या कच्चा माल परिष्कृत किया जाता है तो यह संस्कृत हो जाता है और जब यह बिगड़ जाता है तो 'विकृत' हो जाता है। अंग्रेजी में संस्कृति के लिये 'कल्चर' शब्द प्रयोग किया जाता है जो लैटिन भाषा के 'कल्ट या कल्टस' से लिया गया है, जिसका अर्थ है जोतना, विकसित करना या परिष्कृत करना और पूजा करना। संक्षेप में, किसी वस्तु को यहाँ तक संस्कारित और परिष्कृत करना कि इसका अंतिम उत्पाद हमारी प्रशंसा और सम्मान प्राप्त कर सके। यह ठीक उसी तरह है जैसे संस्कृत भाषा का शब्द 'संस्कृति'। संस्कृति का शब्दार्थ है - उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। यह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता और उन्नत करता रहता है। ऐसी प्रत्येक जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज रहन-सहन आचार-विचार नवीन अनुसन्धान और आविष्कार, जिससे मनुष्य पशुओं और जंगलियों के दर्जे से ऊँचा उठता है तथा सभ्य बनता है, सभ्यता और संस्कृति का अंग है। सभ्यता (Civilization) से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है जबकि संस्कृति (Culture) से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह भोजन से ही नहीं जीता, शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक उन्नति से शरीर की भूख मिट सकती है, किन्तु इसके बावजूद मन और आत्मा तो अतृप्त ही बने रहते हैं। इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य अपना जो विकास और उन्नति करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। मनुष्य की जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन होते हैं। सौन्दर्य की खोज करते हुए वह संगीत, साहित्य, मूर्ति, चित्र और वास्तु आदि अनेक कलाओं को उन्नत करता है। सुखपूर्वक निवास के लिए सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का निर्माण करता है। इस प्रकार मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक सम्यक् कृति संस्कृति का अंग बनती है। इनमें प्रधान रूप से धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान-विज्ञानों और कलाओं, सामाजिक तथा

www.ignited.in

राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश होता है।"[1] सभी विद्वानों ने संस्कृति के स्वरूप को आत्मसात करते हुए अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने की कोशिश की है। जबकि कोई भी परिभाषा अपने आप में पूर्ण नहीं है। सभी परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में संस्कृति को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। दरअसल संस्कृति को एक परिभाषा में बांधना संभव ही नहीं है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी अध्यात्म, समाज-सुधार, संस्कृति और लोकजीवन से जुड़ी सामग्री को महत्त्व देते थे। उनकी भाषा आम फहम और शैली अक्सर किस्सागोई की होती थी। उन दिनों मनोद्वंद्व पर आधारित लेखन का प्रयोग हिंदी में खूब चल रहा था, तब भी बख्शी जी उनके विरोधी तो नहीं थे, परंतु मनोविज्ञान के नाम पर मनोविकृतियों को परोसने के विरोधी अवश्य थे।

कला, संस्कृति की वाहिका है। भारतीय संस्कृति के विविध आयामों में व्याप्त मानवीय एवं रसात्मक तत्व उसके कला-रूपों में प्रकट हुए हैं। कला का प्राण है रसात्मकता। रस अथवा आनन्द अथवा आस्वाद्य हमें स्थूल से चेतन सत्ता तक एकरूप कर देता है। मानवीय संबन्धों और स्थितियों की विविध भावलीलाओं और उसके माध्यम से चेतना को कला उजागार करती है। अस्तु चेतना का मूल 'रस' है। वही आस्वाद्य एवं आनन्द है, जिसे कला उद्घाटित करती है। भारतीय कला जहाँ एक ओर वैज्ञानिक और तकनीकी आधार रखती है, वहीं दूसरी ओर भाव एवं रस को सदैव प्राणतत्वण बनाकर रखती है। भारतीय कला को जानने के लिये उपवेद, शास्त्र, पुराण और पुरातत्त्व और प्राचीन साहित्य का सहारा लेना पड़ता है।

कला एक आध्यात्मिक,आनंदमय अनुभव है। सभी कलाओं का उद्गम दैवी है। भारतीय परंपरा सभी कलाओं का उद्गम दैवी मानती है। कला प्रकृति से आध्यात्मिक है और ईश्वर तक पहुंचने तथा उसके साथ बने रहने का एक आनंदमय मार्ग है। महाभारत के शांति पर्व के अनुसार महाऋषि जैमिनी व्यास के विद्वान शिष्यों में से एक थे। साहित्यिक परंपरा के अनुसार उन्होंने महाभारत का अपना संस्करण लिखा था। लेकिन केवल अश्वमेध पर्व अध्याय को छोड़कर बाकी सब विलुप्त हो गया है। इस कृति में एक साक्षात्कार की कहानी दर्ज है जो योग,ध्यान,तप और दान की तुलना में प्रदर्शनकारी कलाओं को ईश्वर की अनुभूति के लिये आध्यात्मिक विधि के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करती है। इसमें कहा गया है कि एक दिन वे एक नर्तक की कुशलता देखकर अचंभित रह गये थे। खुश होकर नर्तक ने घोषणा की," अरे योगियों, ख़ुद देख लो, जिस हरि का साक्षात्कार तुम ध्यान और कठिन तपस्या के द्वारा नहीं कर पाये, वे साक्षात मेरे सामनें हैं"। नृत्य, गीत और वाद्य यंत्रों का संगीत ईश्वर को सर्वाधिक आनंद देता है, इसके सामने ध्यान, प्रखर तपस्या और उपवास फीके पड़ जाते हैं। भरत मुनि अपने नाट्य शास्त्र में कहते हैं," देवता इत्रों और मालाओं की पूजा से कभी इतना प्रसन्न नहीं होते जितना नाटकों के प्रदर्शन से"। नाट्य कला का विकास धार्मिक कर्मकाण्ड के माध्यम से हुआ है। ऋग्वेद के संवाद, सूक्त के संवाद और स्तोत्र इस बात का प्रमाण हैं कि अल्पविकसित नाटिकायें वैदिक कर्मकाण्ड का अभिन्न अंग थीं। अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने नाटक के प्रदर्शन को स्वयं एक क्रतु या यज्ञ बताया है। क्रमश: नाटक कर्मकाण्ड से अलग हो गया, लेकिन यज्ञ के अनुष्ठानों के दौरान नाटकों को खेले जाने की परंपरा ज़ारी रही।चूँकि संगीत और नाटक मंदिर के कर्मकाण्ड का अंग थे। इसीलिये पुरी के भुवनेश्वर और कोणार्क में इनके लिये बनाये गये नाट्यमण्डप देखे जा सकते हैं। व्याकरणाचार्य पतंजलि ने अपने महाभाष्य में दर्ज किया है कि अनुष्ठान के अंग की तरह मृदंग,शंख तुनव जैसे वाद्य-यंत्र बजाये जाते थे। ऋग् वेद में इंद्र को एक नर्तक और इंद्र के मित्र मारुतों को स्वर्ण आभूषणों वाले नर्तक कहा गया है। देवताओं के वैद्य अश्विनी को नृत्य बहुत प्रिय था। सायण नृत्य करने वाले देवताओं को नृत्यमानो देवता कह कर उल्लखित करते हैं। शिव सर्वोत्कृष्ट नर्तक हैं। शिव नटराज की करण- सारिणी (नृत्यमुद्राओं की शृंखला) दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में उत्कीर्ण है। अभिनय दर्पण में आचार्य नंदिकेश्वर ने शिव के ब्रह्माण्डीय नृत्य का वर्णन किया हैं। वे कहते हैं,," पूरे ब्रह्माण्ड की समस्त गतिविधि उनका आंगिक अभिनय है, और समस्त साहित्य उनका वाचिक है। चंद्रमा औरर नक्षत्र जैसे स्वर्गिक पिण्ड उनका आहार्य हैं और वे स्वयं साक्षात सत्व हैं। " भागवत पुराण मे कृष्ण और बलराम को दो सुंदर अभिनेता बतलाया गया है। परंपरा के अनुसार जब कृष्ण कालिया नाग के फन पर नाचे तभी नटवरी या कथक नृत्य का जन्म हुआ– चित्रकला आध्यात्मिक कला का उत्कर्ष-रूप है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का चित्र-सूत्र कहता है कि चित्रकला धर्म,कर्म के अतिरिक्त, भौतिक शरीर से मुक्त करके अंतिम मोक्ष प्रदान करती है। रस सभी कलाओं की आत्मा है। अपने साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने कला से मिलने वाले आनंद को ब्रह्मास्वाद सहोदर बताया है। कला में ब्रह्म की अभिव्यक्तियां हैं। ब्रह्म रस और शुद्ध आनंद है। रस के नाम से आनंद देने वाला ब्रह्म सभी कलाओं का केंद्रीय सिद्धान्त है।रस परमानंद का आध्यात्मिक अनुभव है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी लिखते हैं कि "भारतवर्ष के साहित्य और कला में आध्यात्मिक भावों की जो प्रधानता है उसका कारण यह देश ही है। काल का प्रभाव दो रूपों में व्यक्त होता है। जाति भविष्य के लिए जो सामग्री छोड़ जाती है

www.ignited.in

उसका उपयोग कर कालांतर में उसकी संतान साहित्य की श्री वृद्धि करती है। इसके साथ ही भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्ष से जो उत्क्रांति उत्पन्न होती है, उसका भी प्रभाव साहित्य पर अंकित हो जाता है। वर्तमान हिंदी साहित्य पर प्राचीन आर्य जाति का प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार उस पर इस्लाम सभ्यता एवं आधुनिक यूरोप का भी प्रभाव विद्यमान है। इन सब प्रभावों से जाति की उन्नति और अवनति होती है वह उसके साहित्य में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।"[2] भारतीय संस्कृति पर इस्लाम और आधुनिक यूरोप के प्रभावों को प्रमुखता से रेखाकिंत किया है।

दरअसल "भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ वेद हैं। हिंदू की दृष्टि में वेद उसके सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का अनंत स्त्रोत्र है। इसमें संदेह नहीं कि वेदों ने ही हिंदू साहित्य और विज्ञान की गति निर्दिष्ट कर दी। वेदों के कर्मकांड और ज्ञान कांड से हिंदू धर्म शास्त्रों और वेदांत शास्त्र की सृष्टि हुई।

शास्त्रों का कथन है कि जिन नियमों के द्वारा हमारे बाह्य और आंतरिक जीवन का संगठन होता है, उनका न आदि है और न अंत। वह स्वत: प्रसूत हैं। अतः उन्हें शिरोधार्य करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। सदाचार और कर्तव्य विधि में कोई भेद नहीं है। पवित्र जीवन उसी का समझा जाता है जो अपने समाज-निर्दिष्ट सभी कामों को करता है। यही कारण है कि आज तक हिंदुओं में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अधिक प्राबल्य है। वेदांत शास्त्र की शिक्षा इसके बिल्कुल विपरीत है। उसने सामाजिक जीवन की उपेक्षा कर प्रत्येक व्यक्ति के आत्मिक विकास पर जोर दिया है।"[3] सामाजिक जीवन से निर्धारित होने वाले नियम-कानूनों को विशेष महत्त्व देने पर जीवन पवित्र बनता है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार, "संस्कृति मानव की भौतिक प्रगति से सम्बंधित है और वह वर्ग की वस्तु है,क्योंकि यह विचारधारा बौद्धिक चेतना को भौतिक वस्तु सम्बन्धों पर आधारित मानती है।संस्कृति का सम्बंध सामाजिक चेतना से है और सामाजिक चेतना के रूप स्थिर करने वाले कानूनी एवं राजनीतिक ढांचे का आधार आर्थिक ढांचा है।भौतिक उत्पत्ति के प्रकार सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन व्यापारों का निर्धारण करते हैं।"[4]

मार्क्सवाद की दृष्टि में जब तक कोई वर्ग या समूह प्रगतिशील है तभी तक उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील है किंतु उसकी प्रगति के शिथिल पढ़ते ही संस्कृति शिथिल पड़ जाती है और वह मूल्यहीन हो जाती है प्रगति की गति को परंपरा बंद करती है और नई विचार पद्धति के उत्पन्न होने में बाधा डालती है।

एडबर्ड टाइलर के अनुसार-"संस्कृति अपने मानव शास्त्रीय अर्थ में उस सन्निकट परिकल्पना को कहते हैं जिसमें ज्ञान,विश्वास,कला नैतिकता,विधि-विधान,रीति-रिवाज और अन्य व्यवहार और सामर्थ्य सम्मिलित है जिन्हें मनुष्य अपने समाज से ग्रहण करता है।"[5]

मैथ्यू आर्नल्ड अपने संस्कृति विषयक अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है- "जीवनगत परिपूर्णता के प्रति प्रेम तथा उस परिपूर्णता का अध्ययन। परंतु व्यक्ति समाज से अलग एकाकी रहकर उक्त परिपूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता। अतएव यह एक सामाजिक भाव है तथा सांस्कृतिक मनुष्य समानता के सच्चे देवदूत हैं।"[6]

भारतीय वाड्मय में संस्कृति को प्राचीन काल से ही महत्व प्राप्त है।वेदों में संस्कृति शब्द की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं है किंतु इस शब्द का उल्लेख मिलता है- स्याम सा प्रथम संस्कृति विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्नि:।[7]

प्राचीनकाल से लोग कहते आए हैं कि परमपुरुष को पाने का रास्ता त्रिविध है - ज्ञान, कर्म और भक्ति। लोग कहते हैं कि ज्ञान से लोग समझ लेते हैं कि परमात्मा क्या है, वे स्वयं क्या हैं और परमात्मा को पाना क्या है? यह विचारणीय है कि ज्ञान से कोई मनुष्य कैसे समझेगा कि परमात्मा क्या है? मनुष्य का ब्रेन (मस्तिष्क) तो छोटा सा है, वह भी भगवान का दिया है। वह कैसे समझेगा कि परमपुरुष किस तरह के हैं? इसलिए ज्ञान के माध्यम से परमात्मा को समझ लेने का दावा सही नहीं हो सकता। थोड़ा रोग होने से बुद्धि चली जाती है, बुढ़ापे में बुद्धि चली जाती है। एक बाईस साल का युवा जितना याद रख सकता है, उतना अस्सी साल का बूढ़ा आदमी याद नहीं रख सकता। फिर यह भी कहते हैं कि ज्ञान से यह समझ लेंगे कि वह (मनुष्य) क्या है। मनुष्य यह नहीं जानता है कि वह कौन है। आज से दो सौ साल पहले तुम लोग कौन थे, और फिर दो सौ साल बाद कहां रहोगे, यह भी नहीं जानते। इसलिए यह कहना भी सही नहीं है कि ज्ञान से आगे के बारे में, भविष्य के बारे में जाना जा सकता है। हां, ज्ञान से कुछ हद तक मन की तृप्ति हो जाती है, कुछ हद तक वह दूसरों को समझा सकता है, मगर इससे अधिक कुछ नहीं। मैं यह नहीं कहूंगा कि ज्ञान की चर्चा नहीं करो। जब तक ज्ञान की भूख है तब तक ज्ञानार्जन करते रहो। जब महसूस करो कि इसके आगे ज्ञान से कुछ होने वाला नहीं है, तब उसे छोड़ना। इसके पहले ज्ञान की राह छोड़ने की आवश्यकता नहीं। फिर, कुछ लोग कहते हैं कि कर्म के द्वारा परमपुरुष को पाएंगे। यह भी ठीक है। परमपुरुष के पास जाना भी कर्म ही है। कर्म के बिना तो मनुष्य एक पल भी रह नहीं सकते हैं। सांस लेने

की क्रिया भी कर्म है। कर्म करना चाहिए, किंतु वह सही कर्म होना चाहिए। चलेंगे, किंतु किधर? यदि परमपुरुष की ओर चलें तो ठीक है, अगर उधर नहीं चलते तो वह अकर्म है। उससे कोई फायदा नहीं है। अगर परमपुरुष की भावना लेकर कर्म किया तभी ठीक है। भक्ति के विषय में ज्ञानी जन मानते हैं कि मोक्ष के लिए भक्ति का मार्ग श्रेष्ठ है। वे यह नहीं कहते कि भक्ति एकमात्र रास्ता है, क्योंकि अगर वे यह मान लें कि भक्ति एकमात्र रास्ता है तो उनके ज्ञान की कोई कीमत ही नहीं रहेगी। अत: वे अपने ज्ञान की कीमत बचाने के लिए कहते हैं कि भक्ति श्रेष्ठ है। लेकिन मैं तो कहूँगा कि भक्ति ही एकमात्र रास्ता है परमपुरुष को पाने का। भक्ति जग गई तो पूरा काम हो गया। भक्ति को जगाने के लिए मनुष्य ज्ञान की चर्चा करें, कर्म की चर्चा करें। जब तक पूरे तौर से भक्ति जगती नहीं है, तब तक ज्ञान और कर्म की जरूरत है -तब तक मनुष्य ज्ञान, कर्म की चर्चा करते रहें। और जब भक्ति जग गई तो परमपुरुष से प्रेरणा लेकर काम करें। यह जो विश्व-ब्रह्मांड है, यह सब परमपुरुष की सृष्टि है। इस दुनिया के सभी जीव उनकी संतान हैं, इनकी सेवा करने से परमपुरुष खुश होंगे, यह समझकर भक्त दुनिया की सेवा करते रहें, समाज की सेवा करते रहें, मनुष्य की सेवा करते रहें, बेसहारा को सहारा देते रहें। यह दुनिया परमपुरुष का ही सृजन है और इसकी सेवा करने से परमपुरुष प्रसन्न होंगे। हम सभी अपने धर्म का प्रचार करें, सेवा करें, किंतु हमेशा याद रखें कि वे यह सब करना है उस परमपुरुष को प्रसन्न करने के लिए। उसके पीछे और कोई वजह नहीं है। अत: भक्ति ही एकमात्र रास्ता है। और जब तक सच्ची भक्ति नहीं होती, तब तक ज्ञान की चर्चा करते रहो, कर्म की चर्चा करते रहो, और हमेशा याद रखो की यह ज्ञान चर्चा, कर्मचर्चा भक्ति को जगाने के लिए है, और उसे बढ़ाने के लिए है। सामाजिक संपत्ति जब व्यक्तिगत संपत्ति में बदल जाती है, तब उसका ध्येय ही बदल जाता है। पदुमलाल पुन्नालाल के अनुसार- "वैदिक साहित्य जनसाधारण की संपत्ति न होकर कुछ ही लोगों की संपत्ति हो गया। भारतवर्ष के सर्व साधारण के मानसिक विकास में रामायण और महाभारत में खूब काम किया। उनका प्रभाव आज तक अक्षुण्ण है। इन्हीं दो महाकाव्यों के आधार पर संस्कृत का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है। संस्कृत के जितने कवि और नाटककार हुए हैं, सभी ने रामायण और महाभारत का आश्रय ग्रहण किया है। महाभारत प्राचीन हिंदू साहित्यगार की अक्षय निधि है। संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी कवियों ने उसी के कथा भाग का अवलंबन कर कितने काव्य और नाटक लिख डाले। महाभारत में हिंदू धर्म का विशद विवेचन है। उसी में कर्म और ज्ञान का रहस्य समझाया गया है। राजनीति और समाजशास्त्र की विस्तृत व्याख्या उसी में की गई है। सारांश यह है कि ऐसा कोई भी शास्त्रीय विषय नहीं है जिसका निरूपण महाभारत में न किया गया हो। अर्थात महाभारत में धर्म ,अर्थ ,काम ,मोक्ष इन चारों का वर्णन है जो इसमें है वही अन्यत्र है,जो इसमें नहीं है वह दूसरी जगह भी नहीं है।"[8]

"प्राचीन काल में भारत ही सभ्यता का केंद्र था। महाभारत विशाल ग्रंथ है। उसके कर्त्ता वेद-व्यास माने जाते हैं। वही अठारह पुराणों के भी रचयिता कहे जाते हैं। वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल तक भारत की परिस्थिति में विशेष परिवर्तन न हुआ हो तो भी इसमें संदेह नहीं की महाभारत में बौद्ध कालीन स्तूपों तक का उल्लेख है। वैद्य जी का कथन है कि वर्तमान महाभारत के कर्त्ता तीन है। तीन से अधिक मानना निराधार है।ये तीन हैं-व्यास,वैशम्पायन और सौति। मूल ग्रंथ ऐतिहासिक था।उसका नाम जय था। उसी के कर्त्ता व्यास जी हैं। यही ग्रंथ भारत कहा जाता है और अंत में जब उसका विस्तार बढ़ गया तब वह महाभारत हो गया।हम वैशम्पायन के ग्रन्थ को भारत और सौति की कृति को महाभारत कह सकते हैं। वैद्य जी का यह सिद्धांत है कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप शक के पहले तीसरी शताब्दी में गठित हुआ है। उस समय जैन और बौद्ध धर्म के आघात से सनातन धर्म की दुरावस्था हो रही थी।इसीलिए सौति ने भारत को महाभारत का बृहत स्वरूप देकर सनातन धर्म के अन्तस्थ विरोधों को दूर कर दिया।मूल ग्रंथ और वैशम्पायन के भारत में विशेष अंतर नहीं था। भारत में सिर्फ 24000 श्लोक थे और अब महाभारत में एक लाख श्लोक हो गए हैं। यह अधिक संख्या सौति की जोड़ी हुई है परंतु यह भाग व्यास जी के मूल ग्रंथ की स्फूर्ति से ही जोड़े गए हैं। ऐसी अवस्था में इन भागों का कर्तव्य भी व्यास जी को ही दिया जा सकता है।"[9]

पुन्नालाल बख्शी ने भारतीय आदर्शों पर अपने निबंधों के माध्यम से अपने विचार व्यक्त किए हैं। "भारतीय आदर्श का अंतिम परिणाम यह हुआ कि देश की राजनैतिक शक्ति राजा में केंद्रीभूत हो गई और प्रजा भक्ति के आवेश में राजनीतिक सत्ता से उदासीन हो गई। हिंदू राजाओं में स्वेच्छाचारिता का अभाव अवश्य था। इसका कारण यह नहीं कि प्रजा उनकी राजनैतिक शक्ति में हस्तक्षेप करती थी। बात यह थी कि राजा समाज से पृथक नहीं था, वह उसका अंग था और इसीलिए वह लोक मर्यादा के विरुद्ध नहीं चल सकता था। जब कभी किसी राजा ने राजनीति के केंद्र से बाहर आकर समाज पर आघात किया तभी उसका विरोध किया गया। भारतीय इतिहास में प्रजा विद्रोह का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें प्रजा ने राजा की राजनैतिक सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया हो। मुसलमानों के शासनकाल में भी हिंदू प्रजा अपनी अवस्था से संतुष्ट थी। वर्तमान युग में जो अशांति

www.ignited.in

फैली है उसका कारण यह है कि राजनीति का आदर्श ही परिवर्तित हो गया है और वर्तमान युग के लिए अभी तक ऐसा आदर्श निश्चित नहीं हुआ है जो एक विश्वव्यापी अशांति को दूर कर सकें।"[10] भारतीय समाज में राजा और प्रजा के संबंध हमेशा से सौहार्द पूर्ण रहे हैं।

आधुनिक भारत का चिंतन भारतीय तथा विदेशी संस्कृतियों का टकराव का चिंतन है। दुर्भाग्य से स्वतंत्र भारत की बागडोर उन हाथों में है, जो कि पश्चिमी संस्कृति को पूजते थे। भारत में जब कभी आधुनिकीकरण की बात चली तो बड़े शहरों का विकास हुआ। शिक्षा का स्तर उठाने के नाम पर अंग्रेजी का प्रचार प्रसार किया गया। जीवन स्तर ऊंचा उठाने के नाम पर घूसखोरी, रिश्वतस चोरबाजारी, भ्रष्टाचार बढ़ा। धीरे-धीरे आलोक स्तंभ लुप्त होते चले गए और अंधा युग उतरता चला गया। हिंदी निबंधों का क्रमिक विकास देखने पर ज्ञात होता है कि हिंदी में निबंधों का श्रीगणेश हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से हुआ है। आरंभ में भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट ,प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह आदि निबंधकारों ने हिंदी निबंध परंपरा को आगे बढ़ाया। इसके उपरांत महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, शिवपूजन सहाय और अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि कितने ही निबंधकार हुए। जिन्होंने निबंध को परिमार्जित करते हुए उन्नति पथ की ओर अग्रसर किया। हिंदी निबंध के विकास का उत्कर्ष काल आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आगमन तिथि अर्थात 1920 ईस्वी से आरंभ होता है और 1940 ईसवी तक चलता है। कुछ विद्वान इस को शुक्ल युग भी कहते हैं। इस युग के निबंधकारों में शुक्ल जी के अतिरिक्त डॉ. गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, नंददुलारे वाजपेयी, महादेवी वर्मा, संपूर्णानंद, काका कालेलकर आदि कितने ही निबंधकार उल्लेखनीय है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने निबंधों के माध्यम से भारतीय संस्कृति, भारतीय मूल्यों, भारतीय समाज की जीवन-शैली, कृषि और समाज के संबंधों आदि का तार्किक एवं सारगर्भित मूल्याकंन एवं विश्लेषण किया है। उन्होंने भारतीय धर्म के मानवतावादी मूल्यों को मुख्य रूप से चित्रित किया है। हिंदू और मुस्लिम धर्म के साथ-साथ भारतीय समाज में अपनी निर्णायक भूमिका निभाने वाले सभी धर्मों की विशेषताओं को प्रमुखता से चित्रित किया है। हिंदू धर्म की उन सभी विशेषताओं को भारतीय समाज की गतिशीलता के साथ उल्लेखित किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. https://hi.wikipedia.org
2. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ग्रंथावली, खंड 5, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ 436-437
3. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ग्रंथावली, खंड 5, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ 437
4. कार्ल मार्क्स, क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकानामी, प्रस्तावना, पृष्ठ-23-24
5. Eedbird Tiler, Primitive Culture,Page -1
6. Methew Arnold, Culture and Anarchy, Page-44-48
7. ऐतरेय ब्राह्मण -6/5/1 यजुर्वेद-7/14
8. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ग्रंथावली, खंड 5, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ 437-438
9. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ग्रंथावली, खण्ड 5, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ-438
10. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ग्रंथावली, खंड 5, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ 506

Corresponding Author

Kuldeep Sharma*

Lecturer in Hindi, GSSS Singowal, Jind Haryana

kuldeepmusker@gmail.com